International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 02-06-2025, Accepted: 02-07-2025, Published: 17-07-2025
Volume 11, Issue 3, 2025, Page No. 16-18

स्मृति–साहित्य में राजनैतिक व्यवस्था

विमलेश तिवारी
संस्कृत विभाग, जे.एन.यू, नई दिल्ली, भारत

सारांश
भारत एक समृद्धशाली देश रहा है, जो अपने सर्वोत्कृष्ट परंपरा के कारण जाना जाता है। राष्ट्र अथवा देश उत्तम तब माना जाता है, जब वहाँ की जनता सुखी और स्वस्थ हो और वह सुखी, समृद्ध तब होती है, जब वहाँ की व्यवस्था सुव्यवस्थित हो। इस व्यवस्था का वर्णन हमारे स्मृति–साहित्य में किया गया है। स्मृति साहित्य के अन्तर्गत धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और पुराण जैसे ग्रन्थ शामिल हैं, जो भारतीय राजनैतिक व्यवस्था के बारे में समुचित जानकारी प्रदान करते हैं। यह साहित्य राज्य और राजा के कर्त्तव्यों, न्यायव्यवस्था और शासन प्रणाली पर प्रकाश डालता है। इस शोध–पत्र में इन्हीं विषयों की चर्चा की गयी है।

मूल शब्दः राज्य, राजा, शासनव्यवस्था, न्यायपालिका, कार्यपालिका

प्राचीन भारत में मानव जीवन की व्यवस्था के लिए छः वेदाङ्गों में 'कल्प' नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत धर्मसूत्र भी लिखे गए। धर्मसूत्र में सामाजिक जीवन के नियमों, विधि–निषेधों, क्रिया–कलापों, आचार–विचारों तथा राजाओं के कर्त्तव्यों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वर्णाश्रम, धर्म, व्यवहार, दण्डविधान, प्रायश्चित, उत्तराधिकार, भक्ष्याभक्ष्य इत्यादि की विवेचना होने से ये धर्मशास्त्र भी कहलाते हैं। गौतम–धर्मसूत्र के अनुसार वेद धर्म का मूल है । धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों में जो विधियाँ बतायी गयी हैं, उनका मूल वैदिक साहित्य में अक्षुण्ण रूप से पाया जाता है। धर्मशास्त्रों ने वेद को जो धर्म का मूल कहा है, वह उचित ही है। वेद धर्म–सम्बन्धी निबन्ध नहीं है, वहाँ धर्मसम्बन्धी बातें प्रसंगवश जुडती गई हैं। वास्तव में धर्मशास्त्र–सम्बधी विषयों के यथातथ्य एवं नियमनिष्ठ विवेचन के लिए हमें स्मृतियों की ओर ही झुकना पडता है। स्मृतियों का निर्माण हिन्दू–धर्म की चरमोन्नति का सूचक है। 'श्रुति' और 'स्मृति' ये दोनों शब्द व्यापक अर्थ के पर्यायवाची शब्द हैं। धर्मशास्त्र में प्राचीनतम 'मनुस्मृति' है, जो बहुत लोकप्रिय तथा प्रमाणिक रूप से देखा जाने वाला ग्रन्थ है। मनु के अलावा भी बहुत सारे स्मृति–ग्रन्थ और स्मृतिकार हुए, जो अपने–अपने काल में प्रभावशाली थे, जिनमें प्रमुख हैं– याज्ञवल्क्यस्मृति, नारदस्मृति, पाराशरस्मृति, अत्रि, विष्णु, बृहस्पति, व्यास, भीष्म, गौतम, वशिष्ठ, भृगु, अंगिरा। भारतीय जीवन के सुदीर्घकालीन नियमों को क्रमबद्ध रूप में संकलित करने का कार्य स्मृतियों ने किया। मनुस्मृति आदि की रचना इन्हीं के आधार पर हुई है। स्मृतिकालीन साहित्य में राज्य एवं राजा की उत्पत्ति का स्वरूप, शासन–प्रणाली, कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि की चर्चा मिलती है। आगे इस लेख में इन्हीं विषयों को आधार बनाकर चर्चा की जायेगी।

राज्य की उत्पत्ति एवं स्वरूप

राज्य के स्वरूप के साथ राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषय पर स्मृति–ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्राचीन भारतीय जनश्रुति के अनुसार मनु ब्रह्मा के मानस पुत्र माने गए हैं। धर्मशास्त्र के आदिप्रणेता वही बतलाए गए हैं। राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त हैं, जिनमें विकास का सिद्धान्त, युद्ध का सिद्धान्त, सामाजिक–अनुबन्ध का सिद्धान्त तथा दैवीय सिद्धान्त हैं। उनमें आचार्य मनु केवल एक ही सिद्धान्त में आस्था रखते हैं, जिसे राज्य की दैवीय सिद्धान्त बतलाया गया है। मानव–स्वभाव दैवी और आसुरी वृत्तियों का समुच्चय है। इन वृत्तियों का सर्वथा परस्पर संघर्ष होता रहता है। जिनमें दैवीय वृत्तियाँ शान्त और कल्याणकारी होती हैं और आसुरी वृत्तियाँ उग्र तथा अकल्याणकारी होती हैं, जिससे मनुष्य में विकार उत्पन्न हो जाता है और वह अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत हो जाता है। इसलिए इनके दमन हेतु दण्ड की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है। राजा दण्ड का प्रतीक माना गया है। अतः वह राजा के निर्माण में राज्य का निर्माण मानते हैं। मनु के अनुसार राजा की उत्पत्ति आठ प्रधान देवों– इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा, कुबेर की सारभूत अंशों से हुई है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि राजा देवमात्र नहीं अपितु देव से महान है। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने राज्य और राजा का विस्तृत वर्णन किया है। भीष्म के अनुसार कृतयुग में न राजा था, न राज्य था, न दण्ड था, न दण्ड–दाता। सभी मानव समाज अपने–अपने धर्म का पालन करते हुए एक दूसरे की रक्षा करते थे। समय के साथ अधर्म के प्रभाव से उनमें राग, द्वेष, मोह, लोभ व्याप्त हो गया। इस प्रकार अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न होने पर सारे लोग ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने राज्य की रक्षा और समुचित व्यवस्था के लिए राजनीति–शास्त्र का निर्माण किया और आदेश दिया कि इनके अनुसार राज्य की व्यवस्था की जाए। इसके पश्चात् सभी लोग विष्णु के पास गए और उनसे आग्रह किया कि आप एक श्रेष्ठ व्यक्ति को राजा बनाए। भीष्म के मतानुसार राजा का पद दिव्य है। वह सनातन देव है। भीष्म के ये विचार मनु के विचारों से मिलते–जुलते है, जो राज्य के दैवीय–सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। राज्य की उत्पत्ति के समाज–अनुबन्धवाद सिद्धान्त का उल्लेख भी शान्तिपर्व में मिलता है। मनुष्य का राजनीतिक जीवन अज्ञात था, वह सामाजिक जीवन व्यतीत करता था। इस युग में मनुष्यों का कोई स्वामी नहीं था। उन लोगों के बीच अराजकता की स्थिति उत्पन्न होने लगी। सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को नष्ट करने लगे, जिससे मात्स्यन्याय प्रचलित हो गया। उन्होंने एकत्र होकर पारस्परिक सहयोग एवं सम्मति से नियमों का निर्माण किया, जिनका उद्देश्य सदाचरण था। इकठ्ठे होकर सभी ने सामाजिक अनुबन्ध किया कि जो भी कटुभाषी, अत्याचारी, परस्त्रीगामी, परधनापहारी होगा, उसको समाज से बहिष्कृत करेंगे। राज्य की उत्पत्ति के विषय में कौटिल्य ने भी समाज अनुबन्ध सिद्धान्त का आश्रय लिया है। उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया कि पूर्व काल में एक ऐसा युग था, जब प्राणियों में मात्स्यन्याय का प्राबल्य था। इस मात्स्यन्याय से दुःखी होकर मनुष्यों ने विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। मनु और भीष्म के समान आचार्य 'शुक्र' भी राज्य एवं राजा की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को मानते हैं। शुक्र के मतानुसार राजा

का निर्माण आठ प्रधान देवों के विशिष्ट अंशों के संयोग से हुआ है।

राज्य के स्वरूप के विषय में मनु, भीष्म, कौटिल्य तथा शुक्र ने जो विचार रखें है, उससे यह स्पष्ट है कि ये सभी राज्य के अवयवनिष्ठ स्वरूप में आस्था रखते हैं। राज्य एक अवयवी है, जिसका निर्माण सात अवयवों के संयोग से है। राज्य के सात अंग है, जिसे सप्तांग राज्य के नाम से संबोधित करते हैं। ये सात अंग स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड और सुहृत् हैं। इस प्रकार हमारे स्मृति–शास्त्रों में राज्य की उत्पत्ति एवं स्वरूप के साक्ष्य स्पष्ट रूप से मिलते हैं।

शासन–व्यवस्था

राज्य अथवा राष्ट्र की भूमि गुणवती हो और उसके निवासी भी उसी प्रकार गुण सम्पन्न हों परन्तु सुशासन का अभाव हो तो ऐसा राष्ट्र कुराष्ट्र में परिणत हो जाता है। इसलिए राष्ट्र का एक आवश्यक तत्त्व शासन–व्यवस्था है। यह व्यवस्था एक अथवा दो व्यक्तियों द्वारा सम्पादित नहीं हो सकती है। इसके लिए विविध योग्यताओं वाले विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। भीष्म इस विषय पर कहते हैं कि सहाय–हीन राजा राज्य का सफल संचालन नहीं कर सकता, किसी भी अर्थ की प्राप्ति अथवा प्राप्त अर्थ की रक्षा में समर्थ नहीं हो सकता। इस विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है–योग्यता एवं कार्यक्षमता के अनुकूल कार्यों के सम्पादन हेतु पुरुषों की नियुक्ति। इस दृष्टि से राज्यकर्मचारियों की नियुक्ति करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है। राजा उस शासन–प्रणाली का मुखिया होता है। भीष्म इस पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि शरभ को शरभ की जगह, सिंह को सिंह के स्थान पर, बाघ को बाघ की जगह, तथा चीते को चीते की जगह नियुक्त करना चाहिए। इसलिए मन्त्रिपरिषद् का सदस्य जो कि राज्य के सात अंगों का एक सदस्य है, जिस विषय का विशेषज्ञ होता है, उसको वही विषय शासन हेतु सौंपा जाता है। मनु इसी विचार की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि पराक्रमी, दक्ष, कुलोत्पन्न व्यक्ति को वित्त–विभाग, शुचि आचरण की विशेषता से युक्त सदस्य को रत्न–खनि विभाग, भीरू सदस्य को अन्तर्निवेश विभाग, सर्वशास्त्रविशारद, अन्तःकरण के शुद्ध व्यक्ति को सन्धि–विभाग का अधिष्ठाता बनाना चाहिए। मन्त्रिपरिषद् के अमात्य को दण्ड (सेनाध्यक्ष) और राजा को राष्ट्र और कोश अपने अधीन रखना चाहिए। मनु मन्त्रिपरिषद् में मन्त्रियों की संख्या सात अथवा आठ बताते हैं। मन्त्रिपरिषद् की उपयोगिता बताते हुए कौटिल्य कहते हैं कि अत्यावश्यक कार्य के आ जाने पर राजा को मन्त्रिपरिषद् को आहूत करके उनसे परामर्श लेना चाहिए। शुक्र ने मन्त्रिपरिषद् को राज्य की अनिवार्य संस्था माना है। शुक्र मन्त्री को राजा की बाहु मानते हैं। इस प्रकार शासन–कार्य में सुचारुता लाने के लिए आचार्यों ने इसका प्रतिपादन किया है।

कार्यपालिका

राजशास्त्र में कार्यपालिका का अर्थ राज्य के प्रधान, मन्त्रिमण्डल, विभागों के प्रधान आदि से लिया जाता है। कार्यपालिका का उद्देश्य निर्मित नियमों एवं विधि को कार्यान्वित करते हुए राष्ट्र का समुचित ढंग से शासन करना है। प्राचीन भारतीय कार्यपालिका के सम्पादन में मुख्य रूप से पुरोहित, अमात्य, मन्त्री, सेनापति, दूत, सचिव आदि महत्त्वपूर्ण थे। आचार्य शुक्र ने राजा की द्स प्रकृतियों में इन सभी की गणना की है। इनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान पुरोहित का बताया गया है। राष्ट्र का अध्यक्ष राजा होता था। ये सभी राज्य के सुव्यवस्थित संचालन में सहायक होते हैं। कौटिल्य पुरोहित के महत्त्व के बारे बताते हुए कहते हैं कि जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे भृत्य चलता है, वैसे ही राजा को पुरोहित का अनुगमन करना चाहिए। शुक्रनीति में कहा गया है कि पुरोहित से बिना मन्त्रणा किए राजा यदि कोई निर्णय करता है तो राज्य का नाश निश्चित हो जाता है। मन्त्री, सचिव, अमात्य को एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है, परन्तु शुक्र ने इन तीनों को भिन्न–भिन्न माना है। देश और लेख्य प्रमाणों के बारे में जो अच्छे से जानता है, उसे अमात्य कहते हैं। कौटिल्य ने भी अमात्य एवं मन्त्रियों को भिन्न–भिन्न माना है। इनके मत में मन्त्रियों का पद अमात्यों से उच्च है। सैन्य संचालन का मुख्य भार सेनापति पर होता है, परन्तु सैन्य व्यवस्था का समुचित निरीक्षण, संचालन को भलीभाँति जानने वाला सचिव होता है। राजा प्रशासन की सफलता हेतु दूत की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। दूसरे की कही हुई बात को दोहरा देना ही दूत का कार्य होता है। राज्य–प्रशासन में दूत के कार्य को स्पष्ट करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि शत्रुदेश में शत्रुराजा का संदेश लाने के लिए जाना, सन्धिभाव को बनाए रखना, समय आने पर अपने पराक्रम को दिखाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना इत्यादि ये सभी दूत का कार्य हैं। कौटिल्य ने कार्यपालिका के विभिन्न विभागों एवं विभागों के अध्यक्षों के कर्तव्य एवं गुणों के बारे में विस्तारपूर्वक चर्चा की है।

न्यायपालिका

समाज के सभी प्राणी एक स्तर के नहीं होते। भले–बुरे, विद्वान–मूर्ख, परोपकारी–स्वार्थी आदि सभी श्रेणियों के लोग होते हैं। लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य अन्य मनुष्यों के अधिकार–हरण करने की चेष्टा करने लगते हैं, जिसके कारण समाज में एक दूसरे के प्रति कलह की उत्पत्ति होती है। मनु का कथन है कि इस संसार में पूर्णतया पवित्र मनुष्य दुर्लभ है। इस प्रकार राज्य में आन्तरिक शान्ति भंग न होने पाए, इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु न्यायालय की सुव्यवस्था एवं इसके संचालन की परम आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने कई प्रकार के स्थानीय न्यायालयों की चर्चा की है। गाँवों में, दश गाँवों पर, चार सौ गाँवों पर तथा आठ सौ गाँवों के केन्द्र में न्यायालय की व्यवस्था थी, जिन्हें क्रमशः जनपदसन्धि, संग्रहण, द्रोणमुख एवं स्थानीय न्यायालय कहा जाता था। इन स्थलों पर जो न्यायालय होते थे उनमें तीन न्यायाधीश जिन्हें 'धर्मस्थ' कहते हैं। स्थानीय न्यायालयों द्वारा विवादों में निर्णय होना चाहिए, इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए शुक्र ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है– कृषक, कारीगर, शिल्पी, ब्याज पर रुपए देने वाले, व्यापारियों के संघ, नर्तक, सन्यासी और चोर ये सब अपने धर्म के अनुसार अपने विवादों का निर्णय स्वयं कर लें। इनका निर्णय उन्हीं के संघ अथवा उन्हीं के जाति द्वारा होने चाहिए। स्मृति–ग्रन्थों में मुकदमा दायर करने के स्थान को 'व्यवहारपद' के नाम से सम्बोधित किया गया है। भीष्म न्याय–व्यवस्था पर अपना मत रखते हुए कहते हैं कि राजा को अभियोगों के सुनने एवं उन पर अपना निर्णय देने के लिए अनुभवी और विविध विषयों के ज्ञाता विद्वान् पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए। राजा के अधीन न्यायालय का स्थान राज्य के अन्य सभी न्यायालयों से ऊँचा माना गया है। न्याय की अवस्थिति दण्ड पर निर्भर है। दण्ड के भय से ही सारे जीव अपने–अपने कर्मों को करते हैं। दण्ड का उद्देश्य है – दुष्टों का निग्रह अर्थात् दमन। दण्ड का अधिकार क्षेत्र बहुत व्यापक है। आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति इन चारों विद्याओं में दण्डनीति ही एक ऐसी बलवती विद्या है, जिसके द्वारा तीनों विद्याओं का सुविधापूर्वक संचालन किया जा सकता है। कौटिल्य का अभिमत है कि अपराधियों के लिए ऐसा दण्ड निर्धारित होना चाहिए जो कि उद्वेगकर न हो, उचित दण्ड ही कल्याणकर होता है, ईर्ष्या, द्वेष और अज्ञानतावश दिया गया दण्ड वानप्रस्थों और परिव्राजकों तक को कुपित कर देता है, गृहस्थ लोगों के संबन्ध में उसकी कल्पना करना भी भयावह है। अतः धर्मस्थ को सोच समझकर अपना निर्णय लेना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि प्रशासन के लिए दण्ड की कितनी आवश्यकता है। इस व्यवस्था के न रहने पर राज्य में

पूर्ण अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। इस प्रकार राज्य में व्यवहार–व्यवस्था की स्थापना और उसके संचालन की उचित व्यवस्था करना राजा का एक प्रमुख कर्तव्य माना गया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में एक समुचित राजव्यवस्था, उसके सम्यक् विकास एवं संवर्धन का परिचय कराती है। राज्य को सुव्यवस्थित रखने और जनता को सुखी एवं सन्तुष्ट रखने के लिए जितने भी आवश्यक तत्त्व होने चाहिए, वे सभी उस समय की राजनैतिक व्यवस्था में दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे राज्य–संचालन हेतु योग्य, सदाचारी तथा कुलीन व्यक्तियों का संग्रह एवं राज्य के विभिन्न विभागों में उनकी यथायोग्य नियुक्ति करना आदि। ये सभी उस समय के समृद्ध भारत का परिचायक है।

सन्दर्भ सूची

1. महाभारत (शान्तिपर्व), गीताप्रेस गोरखपुर।
2. महाभारत, व्याख्याकार गंगाप्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशक मण्डल, चाँदनी चौक दिल्ली।
3. कौटिल्य अर्थशास्त्र, व्याख्याकार वाचस्पति गौराला, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन , वाराणसी, २०२२।
4. मनुस्मृति, व्याख्याकार रामेश्वर भट्ट, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, २०१३।
5. याज्ञवल्क्यस्मृति, व्याख्याकार गङ्गासागर राय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
6. शुक्रनीति, व्याख्याकार पं० ब्रह्मशंकर मिश्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १६६८।
7. द्विवेदी, कपिलदेव, वेदों में राजनीतिशास्त्र, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, भदोही(उ०प्र०), २००६।
8. शर्मा, उमाशंकर, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, २०२१।
9. पाण्डेय, श्यामलाल, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १६८६।
10. पाण्डेय, उदयशंकर, प्राचीन भारत की राज्यव्यवस्था, नाग प्रकाशक, नई दिल्ली, १६६८।
11. काणे, पाण्डुरंग, धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, २०१६।